घुघुतिया पर्व

लोकसंस्कृति और उत्तरायणी की आत्मा

'काले कौवा आ ले घुघुति माला खा ले- घुघुति माला खा ले' कभी ये आवाज उत्तराखंड के सुदूर ग्रामीण अंचलों, उत्तराखंड के विकसित क्षेत्रों सहित प्रत्येक उत्तराखंडी परिवार का बहुत ही लोकप्रिय गीत हुआ करता था। प्रत्येक उत्तराखंडी परिवार चाहे वह प्रदेश में अथवा देश के किसी भी कोने रहता हो। इस घुघुतिया त्योहार को बहुत ही हर्षोल्लास के साथ मनाते हैं। यह कुमाऊं क्षेत्र में अत्यंत लोकप्रिय त्योहार है, जिसे उत्तराखंड में उत्तरायणी त्योहार के साथ मनाया जाता है। घुघुतिया त्योहार मुख्य रूप से कुमाऊं क्षेत्र में बहुत ही प्रचलित है, उत्तराखंड में उत्तरायणी का त्योहार धार्मिक मान्यता लिए हुए है। बागेश्वर में प्रति वर्ष उत्तरायणी मेले का आयोजन होता है, जो एक सप्ताह तक चलता है। यह उत्तराखंड के क्षेत्र का अत्यंत श्रद्धा और हर्षोल्लास के साथ मनाया जाने वाला त्योहार माना जाता है। आज भी उत्तराखंड के लोग गांव हों या भारत वर्ष में कहीं, जहां उत्तराखंडी प्रवासी बंधु रहते हैं, उत्तरायणी के त्योहार को बड़ी ही धूमधाम से मनाते है।

मोहन सिंह बिष्ट
समाजसेवी

उत्तरायणी त्योहार पूरे उत्तराखंड का लोकप्रिय त्योहार है। इसका धार्मिक महत्व भी है। कहते हैं अयोध्या में जब प्रभु श्रीराम का भव्य राजतिलक का आयोजन हो रहा था, तो इस आयोजन में सम्मिलित होने के लिए जगत पिता ब्रह्मा जी भगवान विष्णु की मानस पुत्री सरयू देवी को अपने साथ अयोध्या लेकर जा रहे थे तभी मार्ग में मार्कण्डेय ऋषि का आश्रम पड़ा। मार्कण्डेय ऋषि एक वृक्ष के नीचे साधना कर रहे थे। यह देखकर सरयू रुक गईं और मार्ग में ऋषि के बैठने से उत्पन्न बाधा के कारण व्याकुल होने लगीं। यह देखकर माता पार्वती को उन पर दया आ गई, उन्होंने भगवान शिव की ओर उनकी सहायता हेतु देखा, तो भोलेनाथ ने लीला रची, उन्होंने एक व्याघ्र का रूप धारण कर लिया और माता पार्वती गोमाता रूप धरकर लीला करने लगे। व्याघ्र गाय की ओर झपटा उससे मार्कंडेय जी ध्यान टूटा और वो गोमाता की रक्षा हेतु मार्ग से हट गए। देवी सरयू प्रसन्न होकर अपने मार्ग से बहकर आगे बढ़ गईं, जिस स्थान पर भगवान शिव ने व्याघ्र का रूप धरा था, उस स्थान ऋषि मार्कण्डेय द्वारा भगवान व्याघ्रेश्वर महादेव को शिवलिंग के रूप में स्थापित किया, उन्हीं के नाम पर व्याघेश्वर से धीरे-धीरे अपभ्रंश होकर, उस स्थान का नाम बागेश्वर पड़ा। उसी स्थान पर पवित्र गोमती नदी और मान्यता है कि लुप्त सरस्वती नदी की धारा भी बहती थी। इससे तीनों पवित्र नदियों का संगम होने के कारण यह स्थान और भी पवित्र हो गया। इस दिन को समस्त जनमानस नदी के पवित्र जल में स्नान कर सूर्य को अर्घ्य देकर पूजा आराधना करने लगा। धीरे-धीरे इस स्थान पर दूर-दूर से श्रद्धालु आकर पूजा-अर्चना करने लगे तथा स्नान ध्यान और दान इत्यादि से सभी प्रकार कष्टों मुक्त होने की भावना से एकत्र होने लगे। इस स्थान का महत्व बढ़ता गया। उत्तरायणी प्रमुख रूप से मकर संक्रांति का त्योहार ही है। उत्तराखंड में भी यह कुमाऊं क्षेत्र में घुघुति त्योहार और गढ़वाल क्षेत्र में खिचड़ी संक्रांति के नाम से मनाया जाता है और पूरे उत्तराखंड में यह बहुत ही लोकप्रिय त्योहार है। इस दिन लोग प्रात: काल नदी में स्नान करके सूर्य देव को अर्घ्य देते हैं और उनकी उपासना करते हैं तथा खिचड़ी का दान भी करते हैं।

उत्तरायणी कैथीग

उत्तराखंड में जिला बागेश्वर के अलावा उत्तर प्रदेश की राजधानी लखनऊ तथा बरेली में भी प्रति वर्ष उत्तरायणी का त्योहार बड़ी धूमधाम से मनाया जाता है। राजधानी लखनऊ में विभिन्न पर्वतीय प्रवासी संगठन धूमधाम से उत्तरायणी का त्योहार मनाते हैं। पर्वतीय महापरिषद के द्वारा इस अवसर पर महानगर रामलीला ग्राउंड से लेकर न्यू हैदराबाद स्थित गोमती तट के किनारे भारत रत्न पंडित गोविंद बल्लभ पंत सांस्कृतिक उपवन तक भव्य शोभा यात्रा के साथ दस दिवसीय 'उत्तरायणी कैथीग' का भी आयोजन किया जाता है। इस वर्ष संस्था के रजत जयंती वर्ष पूरे होने के उपलक्ष्य में 'उत्तरायणी कैथीग' '15 दिवसीय' कर दिया गया है। यह कौथीग (मेला) 14 जनवरी से 28 जनवरी 2026 तक चलेगा। इस मेले में उत्तराखंडी जड़ी बूटियों, खान-पान, पहनावे, हस्तशिल्प, ज्वेलरी, दन, शाक-सब्जी में मूली, गडेरी इत्यादि के स्टॉल लगते हैं तथा उत्तराखंडी लोकसंस्कृति को दर्शाने वाले कार्यक्रम लोकनृत्य लोकगीतों की धूम रहती है। बड़े-बड़े गणमान्य अतिथियों के साथ-साथ आम प्रवासी उत्तराखंडी बंधु भी इस कार्यक्रम में बड़े ही उत्साह से भाग लेते हैं। उत्तरायणी के इस मेले से स्थानीय लोगों में पर्वतीय संस्कृति के प्रति जिज्ञासा और अनुराग बढ़ा है, जिससे भारी संख्या में स्थानीय निवासी भी उत्तराखंडी कार्यक्रमों में जुटते हैं तथा भाग भी लेते हैं।

पौराणिक कथा

उत्तराखंड में घुघुतिया त्योहार के पीछे स्थानीय कथा प्रचलित है कि कुमाऊं क्षेत्र में राजा कल्याण चंद का शासन था, उनके कोई संतान नहीं थी। ईश्वर की आराधना करने के बाद, उन्हें पुत्र रत्न की प्राप्ति हुई, जिसका नाम निर्भय चंद था, जिसे प्यार से रानी घुघुतिया कहकर बुलाती थी। घुघुतिया को रानी ने सुंदर सी मोतियों की माला पहना रखी थी। घुघुतिया जब आंगन में खेलता तो रानी मां उसे खिलाते हुए कौओं से कहती थीं। काले कौवा आरे घुघुति की माला खा ले और घुघुति जोर-जोर से ताली बजाकर खुश होता था। घुघुतिया को खेलने के लिए रानी मां पकवान भी रखती थीं, तो कौवे आकर घुघुति के पास एकत्र हो जाते, तो वो उन्हें प्यार से पकवान खिलाता था। धीरे-धीरे घुघुति बड़ा होने लगा और कौवों से उसकी दोस्ती हो गई और वह कौवों के साथ खेलता रहता था। राजा कल्याण चंद का मंत्री बड़ा हो दुष्ट था, जब राजा नि :संतान था, तो उसे राज्य पाने की आस थी, लेकिन राजकुमार घुघुतिया के जन्म लेने से उसका सपना टूट गया था, वो मन ही मन में घुघुतिया से शत्रुता रखने लगा और एक दिन मौका पाकर वह राजकुमार घुघुति को उठाकर उसे मारने की नियत से घने जंगल की ओर ले जाने लगा। ऐसा करते हुए कौवों ने उसे देख लिया। सभी कौवे अपने दोस्त घुघुति को बचाने के लिए मंत्री और उसके साथियों पर टूट पड़े। कुछ कौवे घुघुति की कीमती मोतियों की माला लेकर राजमहल में पहुंचकर कांव-कांव करने लगे। तभी राजा और रानी की नजर घुघुति की माला पर पड़ी, जिसे कौवा चोंच में दबाए हुए था, उसके साथी कांव-कांव कर रहे थे। राजा-रानी समझ गए कि घुघुति संकट में है। राजा ने अपने सैनिकों को लेकर जंगल में जाकर घुघुति को बचाया और उस दुष्ट मंत्री को बंदी बना, उसे मृत्युदंड दिया, घुघुति की जीवन रक्षा होने और सही सलामत घर लौटने पर नगर की राजा सहित समस्त प्रजा बहुत प्रसन्न हुई तथा राजा के आदेश पर नगर में उत्सव का माहौल बन गया। कौओं के सम्मान में सभी नगरवासियों ने घुघुते सहित तरह-तरह के पकवान बनाकर कौवों के साथ-साथ एक दूसरे को भी खिलाए और गीत-संगीत के साथ पूरे वातावरण में हर्षोलासित होकर प्रत्येक वर्ष घुघुतिया त्योहार मनाने लगे। इस घटना का समय और उत्तरायणी का त्योहार एक समय होने के कारण घुघुतिया त्योहार के रूप में मनाया जाने लगा। घुघुति अंग्रेजी अक्षर & के प्रकार का एक पकवान होता है, जो खाने में अत्यंत स्वादिष्ट होता है, जिसे बनाकर उत्तराखंडी माताएं, उन्हें एक मजबूत धागे में माला पिरोकर बच्चों को खेलने के लिए दे देती थीं। सभी बच्चे अपनी-अपनी माला लेकर दौड़ते-हंसते-कूदते अत्यंत प्रसन्न होकर कौवों को आवाज लगाते हैं। 'काले कौवा आ ले घुघुति माला खा ले', 'काले कौवा आले घुघुति माला खा ले'।

पोंगल: तमिल परंपरा का जीवंत उत्सव

लोकायन

तमिलनाडु का शस्योत्सव अथवा फसल कटाई का पर्व पोंगल केवल एक त्योहार नहीं, बल्कि प्रकृति, कृषि और जीवन के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करने का सांस्कृतिक उत्सव है। यह पर्व नई शुरुआत का प्रतीक माना जाता है। इस शुभ अवसर पर सूर्य को समस्त सृष्टि के पीछे निहित जीवन-ऊर्जा के रूप में पूजा जाता है। यह पर्व चार दिनों तक मनाया जाता है और इस अवधि को उत्तरायण पुण्यकालम कहा जाता है, जिसे हिंदू सौर कैलेंडर के अनुसार अत्यंत शुभ माना गया है। इस वर्ष पोंगल 15 जनवरी से 18 जनवरी तक मनाया जाएगा। लगभग दो हजार वर्ष पुराने इस त्योहार के प्रमाण चोल काल से मिलते हैं, जो इसकी प्राचीनता और सांस्कृतिक गहराई को दर्शाते हैं। पोंगल मुख्य रूप से तमिलनाडु में उगाई जाने वाली तीन प्रमुख फसलों चावल, हल्दी और गन्ना के इर्द-गिर्द केंद्रित है। 'पोंगल' शब्द का अर्थ है उबलना या ऊपर से बहना। यही अर्थ उस पारंपरिक व्यंजन से भी जुड़ा है, जो इस पर्व का अभिन्न अंग है। यह उबाल समृद्धि, भरपूर फसल और खुशहाली का प्रतीक माना जाता है।

परंपरागत रूप से पोंगल शुभ मुहूर्त में घर के आंगन में पकाया जाता है। यह मुहूर्त अक्सर मंदिर के पुजारी द्वारा बताया जाता है। आज भी कई घरों में पत्थर से बने चूल्हों पर मिट्टी के बर्तनों में पोंगल पकाने की परंपरा जीवित है। लकड़ी के ईंधन पर पकाया गया पोंगल अपने विशिष्ट स्वाद और सुगंध के लिए जाना जाता है। जैसे ही पकवान उबलकर बर्तन से बाहर आने लगता है, लोग 'पोंगालो पोंगल' का सामूहिक उद्घोष करते हैं। इस समय एक-दूसरे से पूछा जाता है-"पाल पोंगिता?" यानी क्या दूध उबल गया है?-जो शुभता का संकेत होता है। पोंगल की शुरुआत मकर संक्रांति यानी सूर्य उत्तरायण से होती है और यह चार दिनों तक विभिन्न रूपों में मनाया जाता है भोगी पोंगल, थाई पोंगल, मट्टू पोंगल और कानुम पोंगल।

भोगी पोंगल

पोंगल उत्सव का पहला दिन भोगी पोंगल कहलाता है। इस दिन वर्षा और समृद्धि के देवता भगवान इंद्र की पूजा की जाती है, क्योंकि अच्छी फसल के लिए वर्षा का विशेष महत्व होता है। इसी कारण इसे इंद्रन भी कहा जाता है। इस दिन घरों की विशेष साफ-सफाई की जाती है और फर्श पर चावल के घोल से सुंदर कोलम बनाए जाते हैं। कोलम न केवल सजावटी होते हैं, बल्कि उस पवित्र स्थान को भी चिह्नित करते हैं, जहां पोंगल पकाया जाएगा। दिन के अंत तक खेतों से ताजी फसल चावल, हल्दी और गन्ना घर लाई जाती है। शाम को भगवान इंद्र के सम्मान में अलाव जलाए जाते हैं, जिनके चारों ओर नृत्य और गायन का आयोजन होता है।

सूर्य / थाई पोंगल

दूसरा दिन थाई पोंगल या सूर्य पोंगल कहलाता है और इसे सबसे महत्वपूर्ण माना जाता है। इस दिन की शुरुआत प्रात: काल स्नान के बाद कोलम बनाने से होती है, जो प्राय: घर की महिलाएं करती हैं। परिवार के सभी सदस्य नए वस्त्र धारण करते हैं और फिर पोंगल पकाने की मुख्य रस्म आरंभ होती है। मिट्टी के बर्तन में चावल उबाले जाते हैं, जिनमें हल्दी का पौधा बांधा जाता है। बर्तन को सुंदर चित्रकारी से सजाया जाता है और आंगन में चूल्हे पर रखा जाता है। पकने के बाद पोंगल को केले, नारियल और गन्ने के साथ सूर्य देव को अर्पित किया जाता है। पहले देवताओं, फिर मवेशियों और अंत में परिवार व मित्रों को पोंगल बांटा जाता है। इस क्रम का पालन अत्यंत आवश्यक माना जाता है।

मट्टू पोंगल

तीसरे दिन मट्टू पोंगल मनाया जाता है, जो मवेशियों को समर्पित होता है। किसान के जीवन में मवेशियों की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण होती है, इसलिए इस दिन उनका आभार प्रकट किया जाता है। मवेशियों को स्नान कराया जाता है, उनके सींगों को रंगा-संवारा जाता है और फूलों से सजाया जाता है। बुरी नजर से बचाने के लिए उनकी आरती की जाती है। इस दिन जल्लीकट्टू जैसे पारंपरिक पशु खेलों का भी आयोजन होता है।

कानुम पोंगल

चौथा और अंतिम दिन कानुम पोंगल उत्सव के समापन का प्रतीक है। यह आनंद और मेल-मिलाप का दिन होता है। इस दिन चावल को हल्दी के पत्तों पर रखकर पक्षियों के लिए अर्पित किया जाता है। घर की महिलाएं परिवार की समृद्धि और भाइयों की कुशलता के लिए सामूहिक प्रार्थना करती हैं। हल्दी जल से आरती कर उसे पूरे घर में छिड़का जाता है। कानुम पोंगल को नए रिश्ते तय करने, विवाह प्रस्तावों और नए सामाजिक बंधनों के लिए अत्यंत शुभ माना जाता है। इस प्रकार पोंगल केवल फसल का उत्सव नहीं, बल्कि प्रकृति, परंपरा और सामूहिक जीवन-मूल्यों का उत्सव है, जो आज भी तमिल संस्कृति की जीवंत पहचान बना हुआ है।

अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता और समकालीन कला का संकट

सुमन कुमार सिंह
कलाकार/कला लेखक

भारतीय कला इतिहास की चर्चा करते समय प्राय: यह स्वीकार किया जाता है कि सदियों तक यह परंपरा पुरुषसत्ता, राजसत्ता और धर्मसत्ता के प्रभाव में संचालित होती रही। वरिष्ठ कलाकार और कला समीक्षक अशोक भौमिक के अनुसार, इसी कारण भारतीय कला में लंबे समय तक आम जनजीवन, शर्म, पीड़ा और व्यक्तिगत भावनाओं का प्रत्यक्ष प्रकटीकरण सीमित रहा। इस दृष्टि से देखें, तो उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध और बीसवीं सदी के आरंभ में विकसित बंगाल पुनर्जागरण काल की कला भी इस संरचनात्मक सीमा से पूरी तरह मुक्त नहीं हो सकी। ऐसी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में स्वतंत्रता के बाद प्रोग्रेसिव आर्टिस्ट्स ग्रुप (1947) की स्थापना भारतीय कला में एक निर्णायक मोड़ के रूप में सामने आती है। एफ.एन. सूज़ा, एम.एफ़. हुसैन, एस.एच. रज़ा, के.एच. आरा और रामकुमार जैसे कलाकारों ने न केवल औपनिवेशिक अकादमिक यथास्थिति को चुनौती दी, बल्कि व्यक्तिगत अनुभव, सामाजिक यथार्थ और आधुनिक चेतना को चित्रकला का विषय बनाया। यह वह क्षण था, जब भारतीय कला में कलाकार की निजी अभिव्यक्ति पहली बार पूरे आत्मविश्वास के साथ उभरती है।

संवाद होना चाहिए कला का मूल उद्देश्य

आधुनिकता के विस्तार को आगे बढ़ाते हुए भूपेन खख्खर ने मध्यमवर्गीय जीवन, यौनिक पहचान और घरेलू संसार को चित्रकला के केंद्र में रखा, गुलाम मोहम्मद शेख ने इतिहास, मिथक और समकालीन राजनीति के जटिल संवाद रचे और अर्पिता सिंह ने स्त्री अनुभवों को निजी स्मृति और सामाजिक असुरक्षा के साथ जोड़ा। इन कलाकारों के यहां अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता अराजक नहीं, बल्कि वैचारिक जिम्मेदारी के साथ दिखाई देती है। हालांकि पिछले दो-तीन दशकों में समकालीन भारतीय कला में एक ऐसी प्रवृत्ति भी तेजी से उभरी है, जहां अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता स्वयं एक उद्देश्य बनती दिखाई देती है। परिणामस्वरूप ऐसी कृतियां सामने आती हैं, जिनमें न तो माध्यम के साथ गहरा संघर्ष दिखता है, न विषय के साथ कोई जोखिम। कई बार ये कृतियां वैश्विक कला बाजार की मांग, क्यूरेटर-केंद्रित शब्दावली या त्वरित दृश्य प्रभाव के लिए गढ़ी हुई प्रतीत होती हैं। इसी संदर्भ में द आर्ट न्यूजपेपर के सहयोगी संपादक बेन ल्यूक का हालिया टिप्पणी-लेख "वी आर लिविंग इन एन एज ऑफ बैड पेन्टिंग" यानी "हम एक खराब कला के दौर में रह रहे हैं" विशेष रूप से महत्वपूर्ण हो जाता है। ल्यूक स्पष्ट करते हैं कि उनका प्रश्न केवल ब्रिटेन या फ्रिज लंदन जैसे कला मेलों तक सीमित नहीं है, बल्कि यह आज की वैश्विक चित्रकला की वैचारिक स्थिति पर एक गंभीर टिप्पणी है। भारतीय संदर्भ में भी यह प्रश्न अप्रासंगिक नहीं है। एक ओर वी.एस. गायतोंडे, जेराम पटेल या नसरीन मोहम्मदी जैसे कलाकारों की परंपरा है, जहां अमूर्तता भी गहन साधना और अनुशासन से उपजती है। दूसरी ओर आज ऐसी चित्रकला भी दिखाई देती है, जो केवल 'अवधारणा' के नाम पर दर्शक से किसी भी संवेदनात्मक या बौद्धिक संवाद से बचती है।

यहां आम दर्शकों के बीच प्रचलित वह व्यंग्यात्मक किस्सा याद आता है- खाली कैनवास पर गाय के घास चरने की कहानी। यह मजाक भले ही अतिरंजित हो, पर वह उस दूरी की ओर संकेत करता है, जो कई बार समकालीन कला और सामान्य दर्शक के बीच पैदा हो गई है। दर्शक यह मानने को विवश हो जाता है कि आधुनिक कला समझ से परे है, जबकि कला का मूल उद्देश्य संवाद होना चाहिए- भले ही वह सहज न हो।

भारतीय समकालीन कला के सामने चुनौती

निस्संदेह, चित्रकला एक दृश्य भाषा है और उसका अनुवाद शब्दों में अनिवार्य नहीं। किंतु इतिहास बताता है कि महान आधुनिक और समकालीन कलाकारों-चाहे वे रामकुमार, तैयब मेहता हों या के.जी. सुब्रमण्यम, ने अपने समय के प्रश्नों से टकराते हुए ऐसी दृश्य भाषाएं रचीं, जो जटिल होते हुए भी अर्थपूर्ण थीं। यहां बेन ल्यूक का प्रश्न इसलिए महत्वपूर्ण है, क्योंकि वह हमें यह याद दिलाता है कि "सब कुछ स्वीकार्य है" का वातावरण कला के लिए उतना ही खतरनाक हो सकता है, जितना सेंसरशिप। भारतीय समकालीन कला के सामने भी आज यही चुनौती है कि वह स्वतंत्रता और जिम्मेदारी, प्रयोग और संवेदना तथा वैश्विक संवाद और स्थानीय अनुभव के बीच संतुलन कैसे बनाए? स्पष्ट है कि 'खराब कला' की यह बहस आने वाले समय में और तेज होगी और ऐसे में संभव है कि भारतीय कला जगत के लिए यह आत्मपरीक्षण का एक जरूरी अवसर भी बन सकती है।

आर्ट गैलरी

अतियथार्थ का स्वप्नलोक

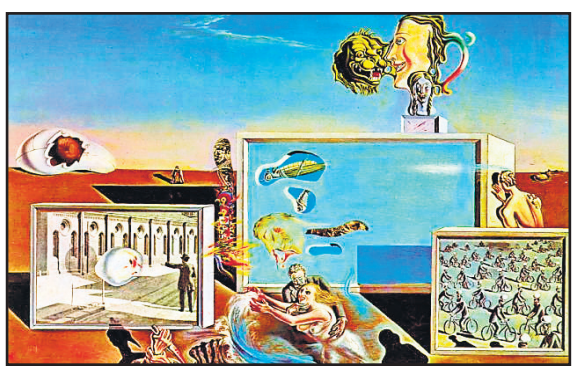

1929 में निर्मित साल्वाडोर डाली की प्रसिद्ध कृति "प्रकाशित सुख" अतियथार्थवादी कला की एक महत्वपूर्ण आधारशिला मानी जाती है। यह चित्र केवल दृश्य सौंदर्य तक सीमित नहीं रहता, बल्कि दर्शक को अवचेतन मन की रहस्यमय और जटिल परतों में प्रवेश करने के लिए प्रेरित करता है। स्पेन के कैटालोनिया क्षेत्र में उभरते कला-आंदोलनों के प्रभाव में बनी यह रचना आंद्रे ब्रेटन और मैक्स अर्न्स्ट जैसे अतियथार्थवादी विचारकों की मुक्त और प्रयोगधर्मी चेतना को प्रतिबिंबित करती है। चित्र में एक काल्पनिक परिदृश्य उभरता है, जहां अनेक पुरुष आकृतियां असंबद्ध और तर्क से परे क्रियाओं में लीन दिखाई देती हैं। लहरदार, रेगिस्तानी भू-भाग के बीच स्थित एक केंद्रीय आकृति पूरे दृश्य पर प्रभुत्व स्थापित करती है, जबकि आसपास फैली अन्य आकृतियां किसी स्वप्न की भांति अलग-अलग भावनाओं और स्थितियों को व्यक्त करती हैं।

सल्वाडोर डाली के बारे में- 1904 में स्पेन के फिगेरेस में जन्मे सल्वाडोर डाली का जीवन उतना ही असाधारण था, जितनी उनकी कला। बचपन से ही उनकी प्रतिभा स्पष्ट थी, किंतु पारिवारिक अनुभवों और निजी आघातों ने उनके भीतर द्वैत और रहस्य की भावना को गहराई दी। सैन फर्नांडो अकादमी में औपचारिक शिक्षा प्राप्त करने के बावजूद उन्होंने पारंपरिक सीमाओं को अस्वीकार किया और अपनी स्वतंत्र शैली विकसित की। पुनर्जागरण की तकनीकी परिपक्वता और स्वप्निल कल्पना के अद्वितीय मेल ने डाली को अतियथार्थवाद का सबसे प्रभावशाली चित्रकार बना दिया।